

अद्वैत वेदान्त के आलोक में- ज्ञान के प्रकार (प्रमा, अप्रमा, अध्यास, ववर्त, सत्ता त्रय)

मीनाक्षी जोशी

शोधच्छात्रा

संस्कृत अध्ययन वाला , वक्रम वशव वद्यालय उज्जैन

अद्वैत-वेदान्तानुसारेण प्रमा के स्वरूप का सामान्य लक्षण जिसके अनुसार- 'अन धगताबा धत वषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्' (वे.प., प्रत्यक्षखण्ड) कहा गया है। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य २-१-१ में स्पष्ट रूप से कहते हैं क जो वस्तु एक रूप में अवस्थित रहती है तो उसे परमार्थ सत् या तात्त्विक पदार्थ कहते हैं। ऐसे पदार्थ का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है, ऐसा लोकानुभव है। यथा- 'अग्नि की उष्णता का ज्ञान'। अद्वैत वेदान्त के अनुसार 'तत्त्व'- नित्य, अपरिणामी एवं वकारहीन होता है, एवम् उसका ज्ञान ही वस्तुतः प्रमा है, वकारी पदार्थ तात्त्विक नहीं होते। पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म है, परन्तु द्वैत दशा जो संसारिकी होती है वहाँ प्रमाता भन्न वषयों तथा भन्न पदार्थों को देखता है। (यत्रहि द्वैत मति भवति तदितर इतरं पश्यति, बृहदारण्यकोपनिषद् 4-5-51)

अर्थात् अ धष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार पर्यन्त ही प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार होते हैं।

प्रमा (ज्ञान) के भेद

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान के दो भेद माने जाते हैं-

१. परोक्ष ज्ञान

२. अपरोक्ष ज्ञान

परोक्षज्ञान-

यद्यपि अद्वैत-वेदान्त में जगत् शुक्ति-रजत की भाँति मथ्या होने के कारण बा धत होता है तब उसका ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत कैसे आ सकता है? इस प्रश्न का उत्तर वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र अपने ग्रन्थारंभ में ही देते हुए कहते हैं-

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।

लौ ककं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्॥

(वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृ.५)

अर्थात् देहात्मरूप प्रत्यय (ज्ञान) जिस भाँति याजक लोगों ने प्रमाणत्वेन स्वीकृत किया है उसी भाँति लौ कक सामग्री-जन्य यह घटादिज्ञान भी आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त ही प्रमाणरूप मानना उचित है। यही अनेक श्रुतिवचनों द्वारा भी स्पष्ट होता है ('यत्र त्वस्य सर्वमात्मवाभूत् तत्केन कं पश्येत्'- बृहदा.4-5-15, यत्र हि द्वैतं मव भवति तदितर इतरं पश्यति- बृहदा.4-5-15)।

अतः व्यावहारिक सत्ता में परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान बाधत नहीं होता।(द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य- अध्यास भाष्य तथा १.१.४)। परोक्ष ज्ञान इन्द्रियों द्वारा स्वैतर इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय द्वारा रूप अपरोक्ष अर्थात् स्वयं का अनुभूत ज्ञान होता है परन्तु कर्णोन्द्रिय द्वारा सुनकर रूप का परोक्षज्ञान होता है। इसी भाँति तिक्त, कटुक, मधुर इत्यादि आस्वाद जिह्वा के लिए अपरोक्ष हैं परन्तु वह कर्ण, नेत्र इत्यादि हेतु परोक्ष ज्ञान बन जाता है।

इस प्रकार एक इन्द्रिय द्वारा दूसरी इन्द्रियों का ज्ञान संसार में परोक्ष ज्ञान कहलाता है।

“सुर भचन्दन मत्यादिज्ञानमप्यचन्दनखण्डांशे अपरोक्षं सौरभांशे तु परोक्षं सौरभ्यस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया”-वेदान्तपरिभाषा, प्रथमपरिच्छेद, पृ.13

परोक्ष ज्ञान के प्रकार-

बा मीमांसकों ने जिन छः प्रमाणों को मान्यता दी है समस्त वेदान्तियों ने भी उन्हें स्वीकार किया है। ये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। परोक्षज्ञान में वस्तु का केवल अस्तित्व का ज्ञान होता है जब क अपरोक्ष ज्ञान में उसका स्वरूप भी ज्ञात होता है। (प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ववेचन अगली प्रवृष्टियों में किया जाएगा।)

अपरोक्ष ज्ञान-

जैसा क कहा गया है- वस्तु का अस्तित्व-मात्र का ज्ञान परोक्ष ज्ञान होता है तथा उसके स्वरूप का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान होता है। वास्तव में दोनों ही प्रकार के ज्ञान अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान हैं जिसमें साक्षी व्याप्त रहता है। कसी वस्तु का इन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियों के अभाव में भी हो सकता है। जैसे-

जीव का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है। दोनों ही प्रकार के ज्ञान में वृत्ति की भूमिका अनिवार्य है। अतः जहाँ उपात्त वषय को समझने के लिए हमें 'वृत्ति' का समझना आवश्यक है—

वृत्ति— जिस प्रकार तालाब का जल तालाब के किसी एक छिद्र के द्वारा निकलकर नहर के सामान लम्बायमान होकर खेतों की क्यारियों में प्रवृष्ट होकर उन क्यारियों की तरह त्रिकोण या चतुष्कोणों में प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस, होने से अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा निकलकर घट-पट आदि वषय देश को प्राप्त करता हुआ घटपटादि वषयों के आकाररूप से परिणाम को प्राप्त होता है यही परिणाम वृत्ति है। (वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृ.9)

अन्तःकरण की वृत्ति के संशय, निश्चय, गर्व तथा स्मरण ये चार भेद हैं। वृत्ति संबन्धी इस व्यवस्था के कारण ही अन्तःकरण के भी क्रमशः चार भेद माने जाते हैं— मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त। (वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृ.19)

वृत्ति के तीन प्रयोजन माने गए हैं—

1. वृत्ति के बिना जीवचैतन्य वषय का अवभासक नहीं होता है, इस लिए चित्त के साथ संबन्ध के लिए वृत्ति की अपेक्षा है।
2. वृत्ति द्वारा जीवचैतन्य एवं वषयचैतन्य में अभेद की स्थापना होती है।
3. यद्यपि जीव व्यापक एवम् अन्तःकरणावच्छेदेन अनावृत है, तथा यथा अवद्यावृत होने से स्वयं अप्रकाशमान होकर वषयों का प्रकाशन नहीं कर पाता, परन्तु वृत्ति द्वारा आवरण भंग होने पर वषयों का प्रकाशन करता है, इस प्रकार वृत्ति द्वारा अवद्या का आवरण भंग होता है।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार शाश्वत चैतन्य वस्तु 'ब्रह्म' ही है कन्तु उपाध (condition)-भेद द्वारा वह अनेक प्रतीत होता है। जैसे— घटादि वषयों से अवच्छिन्न चैतन्य 'वषय चैतन्य' कहलाता है।

अन्तःकरण की वृत्तियों से अवच्छिन्न चैतन्य 'प्रमाण चैतन्य' कहलाता है। तथा स्वयं अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य कहा जाता है।

अन्तःकरण वह अधष्ठान है जहाँ प्रमेय चैतन्य अर्थात् वषयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य अर्थात् वृत्तिचैतन्य तथा प्रामातृचैतन्य अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के मध्य तादात्म्य संबन्ध स्थापित होता है और इसी प्रकार अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

अपरोक्षज्ञान की प्रागपेक्षाएँ

अपरोक्षज्ञान तथा इन्द्रियज्ञान दोनों समान नहीं हैं क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान के बिना भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है यथा जीवात्मा का ज्ञान। अतएव प्रमाण चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य का तादात्म्य ही अपरोक्षता का लक्षण हुआ।

अपरोक्षज्ञान के लए तीन प्रागपेक्षाएँ आवश्यक हैं—

१. योग्यता— जब तक कसी पदार्थ में हमारे ज्ञान का वषय बनने का सामर्थ्य नहीं होगा, तब तक वह पदार्थ हमारे अपरोक्ष ज्ञान का वषय नहीं बन सकता। यह लक्षण अपरोक्षज्ञान का श्रुति-ज्ञान से वभेद करवाता है।

२. वर्तमानता— प्रत्यक्ष वषय में वर्तमानता होना आवश्यक है। यह लक्षण प्रत्यक्षज्ञान का 'स्मृति' से वभेदक भी है। भूतकाल अथवा भ वष्यकाल के वषय का प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्षज्ञान सम्भव नहीं।

३. सन्निकृष्टता— वषयी तथा वषय के मध्य परस्पर सन्निकर्ष द्वारा ही प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है। वषयी तथा वषय के इस सन्निकर्ष का माध्यम 'वृत्ति' है। जिसका ववेचन पूर्व में कया जा चुका है। कन्तु आन्तरिक अपरोक्ष ज्ञान यथा सुख-दुःख आदि के लए यदि प्रथम दो प्रागपेक्षाएँ (योग्यता-वर्तमानता) उपस्थित हों तो तृतीय (सन्निकृष्टता) स्वयं वद्यमान रहती है।

निष्कर्षतः लोक-व्यवहार में दो तत्त्वों का परस्पर तादात्म्य आवश्यक होता है। प्रथम— शब्दचैतन्य-रूप आत्म-तत्त्व, जो वषयी, ज्ञाता, चेतन एवं नित्य है तथा 'अहं' प्रत्ययगोचर है। द्व वतीय, वषय जो ज्ञेय, जड़, अचेतन एवं अनित्य है तथा 'इदं' प्रत्यगोचर है। (द्रष्टव्य है- वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृ. 11-18)

अप्रमा— अद्वैत-वेदान्त में 'अप्रमा' का प्रयोग मथ्या-ज्ञान के अर्थ में कया जाता है। जैसे यथार्थ रजत्-वषयक ज्ञान प्रमा है, कन्तु शुक्ति को देखकर रजत् का आभास हो तो यह अयथार्थ ज्ञान होता है। अतः कहा जा सकता है— जिस ज्ञान के वषय का बाद में होने वाले ज्ञान से बाध हो जाए, वह ज्ञान 'अप्रमा' या अयथार्थ कहलाता है। जैसा क आचार्य ने गौडपादकारिका के भाष्य में भ स्पष्ट कया है—

“रज्ज्वां सर्पेव कल्पित्वात् न तु स वद्यते न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो वद्यमानः सन् ववेकतो निवृत्तः, तथेदं— प्रपञ्चाख्य मायामात्रम्।” (गौडपादकारिका शाङ्करभाष्य, 1.17)

अतएव भ्रम में होने वाला ज्ञान सदैव मथ्या या अप्रमा ही होता है। 'मथ्याज्ञान' या 'भ्रम-ज्ञान' को दर्शन में 'ख्याति' पद द्वारा जाना जाता है। परन्तु अद्वैत-वेदान्त के आलोक में हम अप्रमा का निम्न बिन्दुओं के आधार पर ववेचन प्राप्त कर सकते हैं-

1. अध्यासरूप
2. वपर्ययरूप (माया/अज्ञान के शक्तिरूप)
3. ख्यातिरूप

अध्यास

अ वद्या का दूसरा नाम ही अध्यास है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के प्रारंभ में ही अध्यास-भाष्य का प्रणयन कर इसकी सुव्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत की। आचार्य कहते हैं- "आह कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभासः॥" (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य अध्यासभाष्य) अर्थात् यह अध्यास क्या है? कहते हैं क स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट अन्य में (अ धष्ठान में) अवभास (प्रतीति) ही अध्यास है। सो अन्य शक्ति आदि में पूर्वदृष्ट रजत की प्रतीति ही अध्यास है।

अध्यास को आचार्य ने 'अतस्मिंस्तद् बुद्ध' कहकर भी परिभाषित किया है। (वही अध्यासभाष्य) इस परिभाषानुसारेण जिस वस्तु में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु में अवर्तमान वस्तु की सत्ता स्वीकार करना ही अध्यास है। इस अध्यास का मूल जीव का अज्ञान है। इससे ही रज्जु में सर्प, शक्ति में रजत तथा आत्मा में अनेकत्वमय जगत् की सत्ता का अनुभव होता है।

अध्यासवाद के आधार पर जगत् के मथ्यात्व का निरूपण अ धष्ठान के बिना असम्भव है क्योंकि क मृगतृष्णा जैसी असत् वस्तुएँ भी कसी आधार पर ही कल्पित की जाती हैं। (श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य , अध्याय 13 श्लोक 14वाँ) इस लए शांकर-वेदांत के अनुसार ब्रह्म में ही जगत् को अध्यस्त कहा गया है। जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री को सत्य अथवा मथ्या पुत्र की जननी नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार अध्यास की कल्पना बिना अ धष्ठान अद्वैतानुसार ब्रह्म है। (तुलनीय गौडपादकारिका, शांकरभाष्य 3-28 तथा 1-6)

ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य में अपने सद्वांत की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करते हुए आचार्य शंकर सप्रमाण कहते हैं- "सत्य तथा अनृत के मथुनीकरण द्वारा मथ्या ज्ञान नि मत्तक लोक व्यवहार 'अह मदं' इत्यादि देखा जाता है।" यहाँ चत् आत्मा सत्य पदार्थ है तथा शरीर इन्द्रियादि अनृत पदार्थ है। इन दोनों व भन्न ध र्म्यों में एक ही आत्मबुद्ध रखना मथुनीकरण है। यही 'संसर्गाध्यास' भी कहलाता है। (सत्यानृते मथुनीकृत्य..... ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य- अध्यासभाष्य)

अद्वैत-वेदांत द्वारा 'अध्यास' को सर्वा धक महत्त्व दिया गया है क्यों क बिना अध्यास के लोक व्यवहार सर्वथा असम्भव है।

ववर्तवाद

कार्य-कारणवाद सद्वांत में शंकराचार्य सत्कार्यवाद को मानते हैं। अर्थात् कार्यरूप से पूर्व कारण में कार्य की वद्यमानता जिसके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने उपादान कारण में वद्यमान रहता है। सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं—

1. परिणामवाद
2. ववर्तवाद।

आचार्य शंकर परिणामवाद न मानकर ववर्तवाद के रूप में सत्कार्यवाद को ग्रहण करते हैं। क्यों क परिणामवाद का अर्थ है क कोई वस्तु अपने यथार्थस्वरूप का त्याग कर अन्य स्वरूप ग्रहण कर लेती है तो यह स्वरूप ग्रहण करना ही परिणाम कहलाता है यह वकार भी कहते हैं। यथा— दही, दूध का परिणाम है। दूसरा ववर्त में अपने स्वरूप को त्याग न करने पर भी उसी वस्तु वशेष में अन्य कसी वस्तु की मथ्या प्रतीति होती है।

ववर्तवाद के अनुसार मूलवस्तु अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं त्यागती वरन् वह 'मूल वस्तु' ही कुछ काल वशेष के लए 'अन्य' रूप में प्रतीत होती है और कुछ क्षण उपरान्त भ्रान्ति नष्ट हो जाने पर वस्तु का यथार्थ रूप दृष्टिगत हो जाता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है रज्जु में सर्प की भ्रान्ति। वेदान्तसार में इसका लक्षण कुछ इस प्रकार दिया है—

“सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा वकार इत्युदीरितः।

अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा ववर्त इत्युदीरितः॥”

(वेदान्तसार, सदानन्द यति, पृ.120)घ

अद्वैत वेदांत का केन्द्र-बिन्दु ववर्तवाद का सद्वांत है। जगत् वचार का भी आधार यही सद्वांत है। जैसा क वेदांत परिभाषाकार ने कहा है— “ब्रह्म भन्नसर्व मथ्या ब्रह्म भन्नत्वात्”। इसी लए आचार्य शंकर ने सांख्य के सत्कार्यवाद में परिणामवाद का खण्डन कया और कहा—

“ ववर्तवादस्य हि पूर्व भू मः वेदान्दवादे परिणामवादः।

व्यवास्थेऽस्मिन् परिणाम-वाद, स्वयं समायाति ववर्तवादः॥”

(संक्षेप शारीरक, 2,61)

आदिशंकरानुसारेण प्रतीति और वास्तवकता में अन्तर होता है। अद्वैतवेदांत में सर्वोच्च सत्ता 'ब्रह्म' ही है। तथा जगत् का कारण ही 'ब्रह्म' है। हमें प्रतीत होता है क ब्रह्म का रूपान्तरण नाना वध जगत् में होता है, लेकिन वास्तवकता यह नहीं है। क्योंकि 'ब्रह्म' अपरिवर्तनशील है तथा अपरिवर्तनशील का रूपान्तरण परिवर्तनशील में कस प्रकार होगा? यथार्थ ब्रह्म का रूपान्तरण अयथार्थ जगत् में कैसे होगा? अतएव 'जगत्' 'ब्रह्म' का 'वर्त' है।

ख्यातिवाद

'भ्रम' के वषय में आचार्यों द्वारा दिए गए सद्धान्तों को ख्यातिवाद कहते हैं। वस्तुतः 'ख्याति' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है परन्तु दार्शनिक जगत् में इसे 'भ्रम-ज्ञान' के रूप में स्वीकृत किया जाता है। अद्वैतवेदांत अनिर्वचनीय ख्याति के रूप में भ्रम को स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार भ्रम वस्तुतः प्रत्यक्ष का वषय है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह एक व शष्ट प्रकार का सत्य है जो न सत् है न असत् है न सदसत् है। यह सत् और वास्तवक नहीं है क्योंकि प्रतीति काल में अनुभव किया जाता है और पूर्णतः असत् पदार्थ अनुभव में प्रतीत नहीं किया जा सकता। भ्रम का वषय शून्य भी नहीं।

अतः भ्रम का वषय ता कर्क रूप से सत्-असत् के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। अतः भ्रम अनिर्वचनीय है। (ख्यातिवाद अगली प्र वष्टि में तुलनात्मक रूप से वर्णित की जाएगी यहाँ केवल परिचय मात्र ही अभिहित है।)

इन अप्रमा के भेदों तथा प्रमा के भेदों द्वारा अद्वैत वेदांत में तीन प्रकार की सत्ताओं की तर्क सम्मत स्थापना की गई है।

सत्तात्रय

अद्वैत वेदांत में तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी गई हैं। (वेदान्तपरिभाषा-धर्मराजाध्वरीन्द्र अनुमान परिच्छेद, पृ.47)

1. प्रातिभासक सत्ता- इस सत्ता के अन्तर्गत क्षणिक अस्तित्व वाले पदार्थ आते हैं। यथा- स्वप्न या भ्रम में रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत् की सत्ता का दर्शन। प्रतीति काल में तो इसका यह स्वरूप यथार्थ प्रतीत होता है कन्तु उत्तर काल में प्रातिभासक स्वरूप का बाध हो जाता है।
2. व्यावहारिक सत्ता- इस सत्ता के अन्तर्गत आने वाले वष्य व्यवहार रूप में सत् प्रतीत होते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन में उनकी सत्ता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कन्तु ब्रह्मज्ञान हो जाने पर इसका बाध हो जाता है। इस सत्ता के अन्तर्गत सारे घट-पट इत्यादि सांसारिक पदार्थ आते हैं। प्रातिभासक सत्ता की अपेक्षा यह सत्ता कुछ अधिक स्थायी अस्तित्व वाली है परन्तु पूर्ण सत्य नहीं।

3. पारमार्थिक सत्ता- यह सत्ता पूर्ण रूप से सत्य है इसका बाध नहीं होता है। इस सत्ता में एक मात्र 'ब्रह्म' ही होता है। वेदान्त में 'सत्' शब्द से तात्पर्य केवल त्रिकालबाधित सत् 'ब्रह्म' है जिस श्रुति में "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" कहा गया है। यह सत् ब्रह्म कस प्रकार जगत् की सृष्टि करता है, यही वर्तमान में दर्शाया गया है।

सन्दर्भ-

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, रत्नप्रभासहिता, यतिवरभोलेबाबाकृत भाषानुवाद, अच्युतग्रन्थमाला काशी, १९९१

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (भामती, रत्नप्रभा, पुष्पलताटीकासहित), वाचस्पति मश्र, रामानन्द सरस्वती, महाप्रभुलाल गोस्वामी, चौखम्बा ओरिएण्टल, वाराणसी, १९७६

वेदान्तसार सुबो धनी तथा वद्वन्मनोरञ्जनी टीका, सम्पा. जी.ए. जेकोब, चौखम्बा अमरभारती, वाराणसी, १९७५

वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत, व्यङ्कटेश्वर मुद्रणालय, मुम्बई, १९५७

बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्यसहित, गीताप्रेस गोरखपुर

तैत्तरीय उपनिषद् शाङ्करभाष्य सहित, गीताप्रेस गोरखपुर

श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्यसहिता, गीताप्रेस गोरखपुर

एकादशोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर

अद्वैत वेदान्त का इतिहास एवं सद्धान्त, राममूर्तिशर्मा, ईस्टर्न बुक लंकर्स, नई दिल्ली, १९८७

भारतीय दर्शन, डा०राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली, १९९५

भारतीय दर्शन, उमेश मश्र, उत्तर प्रदेश सरकार, १९५७

भारतीय दर्शन, वाचस्पति गौरोला, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६२

भारतीय दर्शन का इतिहास, एस.एन.दासगुप्त, भाग १ तथा २, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

peer reviewed